Chapter - 8

अष्टम - अध्याय

उपसंहार

मध्यकालीन किसी काव्यधारा (अथवा किसी विशिष्ट कवि) पर किसी पूर्ववर्ती परम्परा का प्रभाव सिद्ध करने में सामान्यत: उन दोनों के साहित्य में उपलब्ध उक्ति-साम्य एवं विचारसाम्य को आधार बनाया जाता है । जो प्रथम दृष्टि में तो स्वाभाविक ही लगता है । किन्तु इस देश के धार्मिक-परिवेश और विविध धार्मिक परम्पराओं की कतिपय अपनी निजी विशेषताएँ हैं, जिनकी उपेक्षा करके किसी पूर्ववर्ती और परवर्ती परम्पराओं के उक्ति साम्य एवं विचार साम्य को प्रथम का दूसरे पर प्रभाव मान लेना भ्रामक हो सकता है । यथा - अपने चिन्तन के अनुसार आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध को स्पष्ट करते समय यदि कोई मध्यकालीन कवि कनक-कुण्डल न्याय का और संसार को भ्रामक सिद्ध करने के लिए सर्प-रज्जू न्याय का उपयोग करता है, और संसार को असत्, अचित् एवं निरानन्द (दु:खमय) बताकर, आत्मा (या ब्रम्ह) को सत्-चित् आनन्द स्वरूप बताता है, तो इस सबसे तत्काल यह निर्णय नहीं दे देना चाहिए कि वह शाँकर वेदान्त से प्रभावित है । अर्थात् मात्र उक्ति-साम्य को "प्रभाव" नहीं मान लेना चाहिए । क्योंकि इस प्रकार की उक्तियाँ दार्शनिक चिन्तन की अनेक परम्पराओं में और ठीक उपनिषत्काल से प्रचलित हैं । वस्तुत: "प्रभाव" का अर्थ होता है - "ग्रहण करना ।" अर्थात् किन्हीं दो परम्पराओं के बीच विचार एवं साधनामार्ग के आदान-प्रदान को एक दूसरे पर प्रभाव कहते हैं ।

उक्त प्रभाव को जब हम केवल उक्ति-साम्य या विचार-साम्य के आधार पर सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं, तब इस देश के धर्म-क्षेत्र की एक विशिष्ट स्थिति की उपेक्षा करते है । वह स्थिति यह है कि इस देश में अत्यन्त प्राचीनकाल से आज तक वैयक्तिक साधना मूलक जितने भी मत, पंथ, सम्प्रदाय प्रवर्तित हुए हैं, वे सब किसी न किसी "गुरू" द्वारा प्रवर्तित किये गये हैं । "गुरू" वस्तुत: ऐसा सिद्ध पुरूष होता है, जिसने ने केवल उस लक्ष्य को स्वयं प्राप्त कर लिया है, जिसे साधक प्राप्त करना चाहता है, अपितु वह उसे शिष्य को प्राप्त कराने में समर्थ भी होता है । अर्थात् गुरू प्राप्तव्य सत्ता अथवा सिद्धि का साक्षात्कार कर चुकने वाला द्रष्टा होता है । इस विशिष्ट स्थिति के कारण गुरू

शिष्यों एवं अनुयायियों के लिए साक्षात् परमेश्वर से अधिक तो हो सकता है, कम नहीं । अतः शिष्यों एवं अनुयायियों के लिए गुरू का वाक्य ब्रम्हवाक्य और उसका आदेश ईश्वरादेश होता है । दूसरे शब्दों में गुरू का उपदेश साक्षात्कृतधर्मा का उपदेश होने से स्वतः सिद्ध प्रमाण होता है, उसे अपनी सत्यता प्रस्थापित करने के लिए किसी शास्त्र या अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती । शिष्य अथवा अनुयायी को उसकी सत्यता में संदेह करने की न तो गुंजायश होती है, न उसे ऐसी छूट ही रहती है । इस स्थिति में शिष्य के लिए किसी अन्य स्रोत से कुछ ग्रहण करने की न तो कोई आवश्यकता रहती है, न अवकाश ।

उक्त स्थिति समस्त वैयक्तिक साधना मूलक सम्प्रदायों के विषय में प्रासंगिक है, अतः मध्यकालीन भक्ति पर बौद्ध-धर्म का प्रभाव देखना भी उसका अपवाद नहीं है । अर्थात् इस विषय पर भी उक्त स्थिति लागू होती है । तब किसी पूर्ववर्ती धार्मिक परम्परा का किसी परवर्ती धार्मिक परम्परा पर प्रभाव सिद्ध करना प्रासंगिक तभी सिद्ध होता है कि जब ऐतिहासिक क्रम में उन दोनों का पूर्वापर सम्बन्ध सिद्ध हो सकता हो । इस सम्बन्ध के सिद्ध होने पर ही उन दोनों के बीच लक्षित विचार-साम्य एवं उक्ति साम्य को प्रथम का दूसरे पर प्रभाव कहा जा सकता है ।

जैसा हम देख चुके हैं, मध्यकालीन भक्ति पर बौद्ध-धर्म का प्रभाव देखने में जो अड़चने अब तक आगे आती रहीं उनमें मुख्य ये हैं - एक तो यह मान लिया गया कि शंकराचार्य अबौद्ध हैं - किसी के अनुसार यदि वे शैव हैं, तो किसी के अनुसार शाक्त तो अन्य के अनुसार वैष्णव - इत्यादि । और यह कि शंकराचार्य एवं कुमारिलभट्ट प्रभृति के अनुसार/यदि प्रयत्नों से बौद्ध धर्म देश की सीमाओं से बाहर ढकेला जा चुका था । दूसरे जिन लोगों ने भक्ति-साधना को अपनाया, प्रस्थान त्रयी पर भाष्य लिखकर उन्होंने स्वयं को वैष्णव (या भागवत) घोषित किया । तीसरे -"द्राविड उत्पन्ने" उक्ति का सहारा लेकर यदि अंग्रेज विद्वानों ने भक्ति को ईसाइयत की देन बताया तो इस्लाम के पक्षधरों ने इस्लाम की । हमारे विचार से मुख्य रूप से उक्त कारणों के फलस्वरूप मध्यकालीन कृष्ण भक्ति विषयक शोध की दिशा एक मात्र वैष्णव धर्म की ओर निश्चित हो गई । इसका परिणाम सर्वविदित है ।

कालान्तर में जो नई बौद्ध-सामग्री प्रकाश में आई है, उससे शंकराचार्य प्रभृति द्वारा बौद्ध धर्म को देश की सीमाओं से बाहर ढकेल देने की बात असिद्ध होती है । दूसरे यह कि रामानुजाचार्य प्रभृति ने स्वयं शंकराचार्य को "प्रच्छन्न बौद्ध" कहा है, जो सत्य के बहुत निकट है । इससे प्रकट है कि शंकराचार्य के समय से अथवा उनसे भी कुछ पहले से ही दक्षिण के कतिपय बौद्ध धर्मानुयायियों ने स्वयं को अबौद्ध (अर्थात् शैव, शाक्त, वैष्णव आदि) सिद्ध करना या जताना प्रारम्भ कर दिया था ।

इसके अतिरिक्त बौद्ध-परम्परा का इतिहास जानने के लिए हमें इतना और याद रखना चाहिए कि एक स्थान पर भगवान बुद्ध ने स्वयं के धर्मोपदेश को संसार - प्रवाह को पार करने के लिए "कुल्लुक" (सूखी लकड़ी के लट्ठों या बाँसों को बाँधकर किसी प्रवाह (नदी-नाला) को पार करने के लिए बनाया गया साधन अर्थात् बेड़ा या तिरन्ना) कहा है ।[1] परवर्ती नवोदित बौद्ध सम्प्रदायों ने सम्भवतः इसी "कुल्लुक" (बेड़ा, तिरन्ना, तेरा) के लिए संस्कृत शब्द "यान" का प्रयोग किया और अपने-अपने सम्प्रदायों के नाम में प्रत्यय के रूप में प्रयुक्त किया । यथा - हीनयान, महायान, मंत्रयान आदि । जहाँ तक यह "यान" शब्द प्रत्यय के रूप में जुड़ता रहा वहाँ तक अर्थात् सहजयान और कालचक्रयान तक बौद्ध-परम्परा की पहचान सुरक्षित बनी रही और उसका इतिहास तारतम्य से बोधगम्य बना रहा । किन्तु कालान्तर में (संभवतः 9वीं एवं 10वीं शताब्दी के आसपास) बौद्ध-परम्परा के सम्प्रदायों के नाम में "यान" प्रत्यय जोड़ना त्याग देना पड़ा । संभव है ऐसा उन्हें विपरीत परिस्थितियों के दबाव के कारण ही करना पड़ा हो, अथवा ब्राह्मण-धर्म परम्परा में अपना स्थान बनाने की चेष्टा स्वरूप । जो हो इस प्रवृत्ति में अपना असली रूप छिपाकर जीवित बने रहने की उनकी भावना निश्चित रूप से रही । एक ओर इन्हें प्रच्छन्न बौद्ध कहकर इनके प्रतिस्पर्धियों ने इनके असली रूप को प्रकट करने की चेष्टा की, दूसरी ओर बौद्ध-परम्परा के इस देश से लुप्त हो जाने की धारणा उत्पन्न हुई, जिसका श्रेय शंकराचार्य प्रभृति को दिया गया ।

वैदिक परम्परा के शैव, शाक्त, वैष्णव आदि के छद्मवेष धारण करके प्रच्छन्न रूप में बौद्ध-परम्परा को जीवित रखने की जो प्रवृत्ति दक्षिण के बौद्धों में अपनाई,

---

1- कुल्लूपमं वो भिक्खवे धम्मं देसेस्सामि नित्थरणत्थाय नो गहणत्थाय - (मज्झिम० 1/3/2)

कालान्तर में पूर्व के बौद्धों ने भी उसे अपनाया । "करण्ड व्यूह" में अवलोकितेश्वर नामक बोधिसत्व ने कहा है कि आगे वे शिव, विष्णु, गणेश आदि के रूप धारण करके लोक का त्राण करेंगे । यही नहीं उड़ीसा के पंच सखाओं में से रमई पण्डित ने अपने "शून्य पुराण" में, बलरामदास ने "विराटगीता" में और अच्युतानन्द ने "शून्य संहिता" में न केवल स्वयं के प्रच्छन्न बौद्ध होने की बात स्वीकार की है, अपितु वेदान्तियों, योगियों, गोरखनाथ बाउल आदि के भी प्रच्छन्न बौद्ध होने की बात कही है । उनकी ये स्वीकारोक्तियाँ ऐतिहासिक महत्व की हैं ।

उक्त विवरण से फलित है कि परम्परागत "यान" प्रत्यय के त्याग देने के बाद जीवित रहे बौद्ध-वंश का इतिहास उक्त "प्रच्छन्न बौद्धों" में ही खोजा जा सकता है । प्रस्तुत अध्ययनमें मध्यकालीन हिन्दी-काव्य की कृष्णभक्ति पर बौद्ध धर्म का प्रभाव देखने के अपने सीमित उद्देश्य के अनुरूप बंगाल एवं उड़ीसा के प्रच्छन्न बौद्धों के इतिहास को ही, उपलब्ध नवीन शोध सामग्री का लक्ष्य अपनाकर प्रस्तुत किया गया है । इससे फलित हुआ है कि बंगाल व उड़ीसा के बौद्ध-सहजिया ही कालान्तर में वैष्णव सहजिया कहे गये और इसके बाद वे वैष्णव माने जाने के दावेदार हो गये । इसी प्रक्रिया में बौद्ध-सहजियों के प्रज्ञा-उपाय वैष्णव-सहजियों के राधा-माधव और वैष्णवों के राधा-कृष्ण में क्रमशः रूपान्तरित होते गये । संस्कृत कवि गीतगोविन्दकार जयदेव, मैथिल कवि विद्यापति और बंगला कवि चण्डीदास इसी परम्परा से सम्बद्ध थे । महाप्रभु चैतन्य इन महानुभावों से प्रभावित थे । उड़ीसा के पंचसखाओं ने एक ओर स्वयं को प्रच्छन्न बौद्ध स्वीकारा है, दूसरी ओर स्वयं को वे चैतन्य सम्प्रदाय से सम्बद्ध बताते हैं । चैतन्य वल्लभाचार्य के समकालीन थे और उनसे मिले भी थे । चैतन्य स्वयं वृन्दावन में आकर नहीं बसे, किन्तु उनके अनुयायी गोस्वामियों ने अपनी कर्म भूमि उसे ही बनाया था । मध्यकालीन कृष्ण भक्ति में वृन्दावन का जो महत्व अथवा माहात्म्य स्वीकृत हुआ उसकी नींव गौड़ीय मत के बंगाली भक्तजनों द्वारा रखी गई थी । इन वैष्णव सहजियों ने बौद्धों के मुक्ता-चन्द्रपुर को नित्य-वृन्दावन में बदल दिया, जहाँ राधा-कृष्ण का नित्य मिलन होता रहता है ।

चैतन्य मतानुयायियों की युगल-उपासना, चैतन्य प्रभु की भक्ति का राधाभाव, कीर्तन, गायन-वादन, लीलागान आदि को वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्ग में यथावत् स्वीकार कर लिया गया । बंगाली भक्तों के झोपड़ों को जलाकर और उन्हें डण्डों

से मारकर वल्लभाचार्य के अनुयायियों ने उनके राधा माधव के मन्दिरों पर किस प्रकार अपना अधिकार जमाया और उन्हें अपने आराध्य के मन्दिर में बदल दिया इसके प्रामाणिक उल्लेख मिलते हैं । इस सबसे प्रकट है कि चैतन्य मत की नींव पर वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग के भव्य-भवन का निर्माण हुआ है । हमारे विचार से यही वह परम्परा है जो ऐतिहासिक क्रम में बौद्धों की सहजयानी परम्परा का हिन्दी की मध्यकालीन कृष्णभक्ति के पूर्वापर सम्बन्ध प्रस्थापित करती है ।

उल्लेखनीय होगा कि बौद्ध भग्नावेशों के लिए छद्मवेश धारण करके परम्परागत शैव, शाक्त, वैष्णव आदि में घुल मिल जाने का रास्ता भी शंकराचार्य ने प्रशस्त किया । एक तो उन्होंने संस्कृत भाषा को अपना लिया, दूसरे शास्त्र-प्रमाण को स्वीकार किया, और तीसरे वैदिक प्रस्थानत्रयी (श्रुति = वेदत्रयी, स्मृति = स्मृतियाँ और न्याय = गृह्यसूत्र एवं तर्कशास्त्र) के समानान्तर वेदान्ती-प्रस्थानत्रयी (श्रुति = उपनिषद, स्मृति = गीता और न्याय = बादरायण कृत "ब्रम्हसूत्र") की कल्पना की । वेद और वेदान्त के स्वभावगत विरोध को यह कहकर झुठला दिया कि वेदान्त वेद का ही अन्तिम अथवा उत्तम भाग है । इससे वेदान्त वैदिक भी हो गया, वेदों से उत्तम भी और वेद के खण्डन का साधन भी बना रहा । और अवैदिकों (वेदान्तियों) के लिए वैदिकों में घुलमिल जाने का मार्ग भी प्रशस्त हो गया । दक्षिण के भक्ति के आचार्य इसी रीति नीति को अपनाकर अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में सफल हो चुके थे । उत्तर के भक्ति-सम्प्रदायों ने भी वही मार्ग अपनाया । यही कारण है कि 12वीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक वेदान्ती प्रस्थान त्रयीपर शैव, शाक्त और वैष्णवों के नामों से होड़ा-होड़ी अनेक भाष्य लिखे गये । पुराने और इन नये शैव, शाक्त, वैष्णवों के अन्तर को इतने से ही समझ लेना चाहिए कि प्रथम स्मृतियों के धर्म को मानने वाले स्मार्त हैं, लोक व वेद की मर्यादाओं के पालन को श्रेयस्कर समझते हैं । जबकि द्वितीय उनको बन्धन कारक बताकर उनके त्याग को श्रेयस्कर मानते हैं ।

तद्धुपरान्त यह कि बौद्ध-धर्म एक विकासशील धर्म रहा है । जब उसकी कोई पुरानी परम्परा अपनी प्रासंगिता खो बैठती है, या प्रभाव शून्य हो जाती है या बदनाम हो जाती है तो कोई नई परम्परा जन्म ले लेती है । यह नई परम्परा अपनी पुरानी परम्परा की मान्यताओं या सिद्धान्तों का खण्डन करके अपना महत्व प्रतिपादित करती हैं और उसकी उत्तराधिकारी बन जाती है । यथा - मूलभूत बौद्ध - परम्परा को "हीन-यानी" कहकर महायानी परम्परा आगे बढ़ी । महायानियों ने कहा - (1) असली बुद्ध

लोक में अवतरित नहीं होते, जिन्हें लोग भगवान बुद्ध कहते हैं, वे तो असली बुद्ध की निर्माण काय (मायावी रूप) थे । (2) हीनयानी साधक अधिक से अधिक अर्हत् पद (जीवन्मुक्ति या अपने दु:खों का क्षय) प्राप्त कर सकता है, जबकि हमारा प्रत्येक साधक बोधिसत्व (बुद्ध भगवान बनने का प्रत्याशी) होता है, जो साधना सफल होने पर स्वयं ही भगवान बुद्ध बन जाता है । हमारा धर्म भगवान बुद्ध द्वारा अपने अति विश्वासु शिष्यों के प्रति द्वितीय धर्मचक्र प्रवर्तन के अन्तर्गत उपदिष्ट है - इत्यादि । इसी प्रकार कालान्तर में बौद्ध-तांत्रिक मतों ने महायान का खण्डन करते हुए कहा कि महायानी बोधिसत्व (साधक) है, जबकि हमारे साधना मार्ग द्वारा व्यक्ति (साधक) इसी जन्म में बुद्धत्व-लाभ कर सकता है । महायानी साधक सांसारिक भोगों (सुखों) को त्यागकर और तप-त्यागमय कठोर जीवन बिताकर सिद्धि-लाभ करता है, जबकि हमारे साधनामार्ग द्वारा सांसारिक सुखों को भोगते हुए भी सिद्ध लाभ संभव होता है । हमारे मत का उपदेश स्वयं भगवान बुद्ध ने अपने अति विश्वासपात्र व अधिकारी शिष्यों को तृतीय धर्मचक्र प्रवर्तन के अन्तर्गत दिया है - इत्यादि । इन्होंने बौद्धों की परम्परागत साधना या साधनाओं को विराग या वैराग्य साधना और स्वयं की साधना को सराग साधना कहा - इत्यादि ।

बौद्ध धर्म की उपर्युक्त प्रकार की विकास-शीलता की मुख्य दो विशिष्टताएँ अवलोक्य हैं - (1) यह कि प्रत्येक नई बौद्ध-परम्परा या विचारधारा अपनी पूर्ववर्ती एक या अनेक बौद्ध परम्पराओं का खण्डन करके अपना महत्व सिद्ध करती है । अत: इस एक मात्र आधारपर नई परम्परा या विचारधारा को बौद्ध परम्परा में न होने का निर्णय नहीं दे देना चाहिए । (2) यह कि बौद्ध धर्म का उक्त प्रकार का विकास जटिलता से सरलता, कृच्छ-साधना से सहज-साधना, योग से भोग और त्याग से ग्रहण की ओर हुआ है । जिसे देखकर आचार्य बलदेव उपाध्याय ने ठीक ही कहा कि - "जिस बौद्ध धर्म का प्रारम्भ कभी पंचशीलों से हुआ था उसकी अन्तिम परिणति पंचमकारों में हुई ।"

पंचमकारों वाली यह साधना योगियों के विभिन्न सम्प्रदायों एवं उनके दार्शनिक चिन्तन में - कमल - कुलिश योग, शब्द-सुरतियोग, नाद-बिन्दुयोग, समरसता, युगनद्ध, धाममार्ग, गुह्ययोग, रहस्यवाद एवं आनन्दवाद आदि अनेक नामों से अभिहित हुई । बौद्ध-सिद्धों ने इसे सर्वप्रथम अपनी वाणी में प्रकट किया है । बौद्ध-सिद्धों एवं नाथ-पंथियों में उपलब्ध इसके स्वरूप को विद्वानों ने "रहस्यवाद" संज्ञा से अभिहित कराया है ।

मध्यकालीन कृष्ण-भक्ति इसी साधना का एक युगलापेक्ष एवं संस्कारित रूप है । दोनों में एक मुख्य अन्तर यह है कि प्रथम में पुरुष (साधक) परनारी (या प्रकृति) के प्रति जारभाव से अपने प्रेम-सम्बन्ध का निरूपण करता है । इसके विपरीत मध्यकालीन कृष्ण-भक्ति में साधक (नर-नारी दोनों) केवल आराध्य को पुरुष और स्वयं को नारी मानकर परकीया भाव से अपने प्रेम सम्बन्ध का निरूपण करता है । कहीं-कहीं साधक प्रेक्षक बनकर अपने आराध्य युगल (शक्ति व शक्तिमान) के पारस्परिक प्रेम सम्बन्धों का निरूपण करता है, तो कहीं कहीं किसी विशिष्ट गोपी (प्रेमिका) के प्रेमभाव का स्वयं पर आरोपण करके उसके बहाने अपने प्रेम सम्बन्ध का निरूपण करता है । यह दोनों के दार्शनिक चिन्तनगत अन्तर के कारण उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है । क्योंकि प्रथम के चिन्तन में पुरुष (साधक) द्वारा प्रकृति को स्ववश करने की बात स्वीकृत है, तो द्वितीय के चिन्तन में भक्ति और शक्तिमान के आदिभाव के मिलन को परमानन्दमय बताया गया है और एक परमात्मा (आराध्य) के अतिरिक्त शेष समस्त सृष्टि को नारी रूपा माना गया है ।

ध्यातव्य यह है कि उक्त अन्तर के बावजूद साधक के मन में स्थायी भाव "रति" उभयत्र सामान्य रहेगा । इसमें "प्रेमो पुमार्थो महान्" की स्थिति यथावत् रहेगी । तदुपरान्त प्रेम चाहे जार भाव का हो चाहे परकीयाभाव का, लोक-वेद की मर्यादाओं का उल्लंघन दोनों में मान्य रहेगा ।

तदुपरान्त यह कि आत्मोद्धार के लक्ष्य वाली कोई भी साधना-पद्धति साधक द्वारा संसार के त्याग का समर्थन करेगी ही । समूची बौद्ध-परम्परा वैयक्तिक साधना के विविध मार्गों की परम्परा है । मध्यकालीन कृष्णभक्ति भी वैयक्तिक साधना मार्ग है । अतः दोनों में साधक के लिए संसार का त्याग अर्थात् संन्यास लेने की अनिवार्य आवश्यकता का प्रतिपादन स्वाभाविक है । अवलोक्य यह है कि प्राचीन बौद्ध-परम्परा में वैराग्य प्रेरक विचारों का प्रतिपादन संसार की अनित्यता, असारता, दुःखवाद एवं लौकिक जीवन के विविध पक्षों के दोष दिखाकर किया जाता था, किन्तु जबसे तान्त्रिकों ने यह घोषणा की कि व्यक्ति जिस राग से बन्धनों में पड़ता है उसी राग से वह बन्धनों से मुक्त भी हो सकता है, तब से वैराग्य भावना के प्रतिपादन में अनित्यतावाद, दुःखवाद आदि को गौण स्थान दिया जाने लगा । उसकी जगह इस विचार को अधिक महत्व दिया गया कि

सांसारिक जीवन से बाँधने वाले अपने समस्त रागात्मक सम्बन्धों को ईश्वर (आराध्य) के साथ जोड़कर व्यक्ति को संसार से विमुख (इश्वरोन्मुखी) हो जाना चाहिए । कहना न होगा कि यह विचार भी व्यक्ति को संसार से विरक्त करने वाला ही है । आराध्य के प्रति साधक के एकान्तिक "राग" को ही उन्होंने "प्रेम" कहा है, और इसी आधार पर अपनी साधना को वैराग, साधना न कहकर राग-साधना या प्रेम साधना कहा है ।

बौद्ध धर्म की भारतीय परम्परा का इतिहास दीर्घकालीन तो है ही, वैविध्यपूर्ण और उलझनों से भरपूर भी है । अत: छद्मवेश अपनाकर अपनी पहचान दुहराना इनके लिए जितना सरल है, इतिहासकारों द्वारा इनको पहचान लेना उतना कठिन है । फिर भी - दार्शनिक चिन्तन एवं साधना मार्ग विषयक इनके साहित्य में प्रारम्भ से अन्त तक (विशेष रूप से साहित्यिक मध्यकाल तक) कुछ ऐसे सामान्य विचार पाये जाते हैं, जिनके आधार पर इन्हें पहचाना जा सकता है । यथा - ब्राम्हणों और उनके द्वारा प्रस्थापित वर्ण-व्यवस्था का विरोध, यज्ञ और उसमें निहित हिंसा का विरोध, वेद-त्रयी और इन्द्रादि देवताओं अर्थात् देवतावाद का विरोध, पितृ-पूजा एवं स्वर्गादि लोकों का खण्डन, स्नान, ध्यान, पूजा, अर्चना, तीर्थ-व्रत आदि का विरोध, लोक-वेद की मर्यादाओं का विरोध, शास्त्रीय प्रामाण्य और संस्कृत भाषा की उपेक्षा, कर्म (धर्म) की निन्दा, नारी-निन्दा, धन-निन्दा, सांसारिक सम्बन्धों की निन्दा या दोष दर्शन, शरीर निन्दा और मृत्यु का भय प्रतिपादित करना, इत्यादि । इसके विपरीत आत्म चिन्तन या आत्म दर्शन और आत्मोद्धार (अपना उद्धार), मूलक आत्म-साधना मार्ग को अपनाकर, गुरुवाद, शरणागति, भाग्यवाद आदि का प्रतिपादन ।

प्रस्तुत शोध कार्य में उपर्युक्त तथ्यों को अन्तर्बाह्य प्रमाणों के साथ यथा-सम्भव विस्तार से प्रस्तुत किया गया है । जिनके आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि - चैतन्य और वैष्णव सहजियों के माध्यम से मध्यकालीन कृष्ण भक्ति सहजिया बौद्धों की परम्परा में और उनसे प्रभावित है । अस्तु ।